आमने-सामने

समय है स्त्रीद्वेषी सोच से जूझने का

कल्पना शर्मा

अब हमें दिल्ली की युवा लड़की के भयावह सामूहिक बलात्कार और मौत से उभरे दर्द और गुस्से से आगे सोचना होगा। 16 दिसम्बर से लेकर आज तक इस घटना के विभिन्न आयामों ने मीडिया में सुर्खियां बना रखी हैं। विचार, टॉक शो, सर्वेक्षण, वृत्त चित्र हमने इनके ज़रिए इस मामले के बारे में देखा, पढ़ा व सुना है। देश की राजधानी में छः पुरुषों द्वारा किए गए इस जघन्य अपराध ने एक ऐसे मुद्दे को सामने लाकर रख दिया जिसे पहले से ही एक राष्ट्रीय सरोकार समझा जाना चाहिए था।

2001 की जनगणना में बच्चों के लिंग अनुपात में गिरावट स्पष्ट नज़र आई। हमें तब ही नींद से उठकर पूछना चाहिए था कि इस देश को क्या हो रहा है जहां लड़कियों को पैदा होने का ही अधिकार नहीं है। पर हमने ऐसा नहीं किया। हमने इस प्रवण गिरावट का ज़िम्मा महिलाओं के ख़िलाफ़ बढ़ती हिंसा पर डाल दिया। एक दशक बाद ये सभी भविष्यवाणियां सच हो रही हैं।

जब अंतर्राष्ट्रीय अध्ययनों ने दर्शाया कि सामाजिक मान्यता प्राप्त स्वास्थ्य व कुपोषण में कमी के कारण भारत में छः साल से कम उम्र की बच्चियां मर रही हैं, तब भी सिर्फ़ कुछ लोगों को ही घबराहट हुई थी। यह कोई आकस्मिक इकलौती घटना नहीं थी। यह लड़कियों को मार डालने की एक प्रक्रिया थी। लिहाज़ा किसी ने इस पर ध्यान नहीं दिया। और न ही किसी ने इसकी कोई परवाह की।

ऐसे कई तरीके हैं जो जन्म से लेकर विवाह, यहां तक कि विधवा, परित्याक्ता या तलाक़शुदा हो जाने पर, औरतों के साथ ज़्यादतियों के लिए ज़िम्मेदार होते हैं। ये प्रक्रियाएं औरतों को दमन, हिंसा और मौत तक ले जाती हैं। इसलिए इन पर किसी का ध्यान नहीं जाता। चंद मुट्ठी भर लोग ही इसकी परवाह करते हैं।

आज औरतें इन सभी बातों पर तफ़सील से ध्यान न दिये जाने का फल भुगत रही हैं— नीति निर्माताओं, नागरिक समाज, मीडिया, बलात्कार और यौन हिंसा के मुद्दों पर आज उत्तेजित हो रहे लोग सभी इस लापरवाही के लिए ज़िम्मेदार हैं।

इस समस्या की जड़ है पितृसत्ता— एक ऐसी सच्चाई जिसका हम नाम लेने से कतराते हैं। वो सामाजिक संरचनाएं भी दोषी हैं जो पुरुष की श्रेष्ठता को वैध करार देती हैं। वो रीति-रिवाज और परम्पराएं ज़िम्मेदार हैं जो औरतों का सामाजीकरण करके उन्हें सिखाती हैं कि वे कमतर हैं और उन्हें हर कदम पर दोयम दर्जा स्वीकार करना चाहिए। और वो सोच जो पुरुषों को विश्वास दिलाती है कि आदेश देना, दमन करना, औरतों से यौन व सेवा-टहल की मांग करना उनका जायज़ अधिकार है।

जैसे-जैसे हम आपराधिक न्याय ढांचे को यौन उत्पीड़न से पीड़ित महिलाओं के लिए काम करने योग्य बनाने; मौजूदा क़ानूनों को सख़्त बनाने, जिससे अपराधी आसानी से छूट न पाए; फास्ट-ट्रैक अदालतों की स्थापना करने, जिससे मामले सालों-साल में घिसते न रहें और उत्तरजीवी दांवपेचों से थक कर हार न मान ले, की दिशा में काम कर रहे हैं वैसे-वैसे हमें यौन अपराधों को वैध ठहराने और इन्हें प्रतिपादित करने वाली सामाजिक ढांचों पर भी गहराई से सोचना होगा।

अगर उपर्युक्त सभी क़ानूनी कदम लागू कर भी दिए जाएं तब भी पितृसत्ता की पकड़ तोड़े बिना हिंसा को कम करना संभव नहीं होगा और यह कोई आसान काम नहीं है। यह ढांचा सदियों से अपने नियत ढंग से चल रहा है। समाज के बदलावों और नवीनीकरण के अनुसार यह खुद को ढालना सीख चुका है। लिहाज़ा औरतों को पढ़ने, नौकरी करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है पर एक तय सीमा रेखा के भीतर, उससे आगे नहीं। एक व्यवसाय चुनने की स्वायत्तता दी जाती है परन्तु सिर्फ़ तभी जब वह शादी की निर्धारित सीमाओं के अनुसार हो। हमें समझाया जाता है कि अपने विचार और सोच ज़रूर

रखो पर अपने जीवन में मौजूद पुरुषों यानी पिता, भाई, पति आदि को पराया करने की कीमत पर हरगिज़ नहीं। और चाहे कुछ शिक्षित युवा लड़कियां इन पाबंदियों पर नाक-भौं सिकोड़ें या झुंझलाएं पर अधिकांश इन्हीं दायरों और सीमाओं को मान लेने में ही अपनी भलाई समझती हैं।

इससे ज़्यादा हिंसा और क्या होगी कि आप किसी लड़की से कहें कि वह एक आज़ाद पंछी है, वो जो चाहे कर सकती है और फिर उसे इन मज़बूत सामाजिक ढांचों में कैद कर दें? विरोध करने और अपनी मर्ज़ी से चलने की कीमत होती है अनेक तरह की हिंसाए जिनकी शायद कभी रिपोर्ट भी दर्ज नहीं की जाती। जो सार्वजनिक जगहों पर होती है वो हिंसा शायद लोगों की नज़र में आ भी जाती हो पर घरों की चारदीवारी के भीतर क्या होता है इसका तो पता तक नहीं चलता।

इन लड़कियों की मांएं भी इस हिंसा को झेलते हुए ही जीती रही हैं। पर दोनों के बीच एक बड़ा फ़र्क़ है। उनकी मांओं ने घर के बाहर सार्वजनिक जगहों पर समान अधिकारों की मांग नहीं की थी। पर आज की लड़की का आत्मविश्वास के साथ बाहर की दुनिया में कदम बढ़ाने के मायने पुरुषों के लिए दूसरे हैं। वे समझते हैं कि ये लड़कियां उनके यौनिक इस्तेमाल के लिए मौजूद हैं। ये लड़कियां पितृसत्ता को चुनौती दे रही हैं। और इससे उन लोगों में गुस्सा बढ़ रहा है जिनका विश्वास है कि औरतें कुछ नियत कामों के लिए उपयुक्त होती हैं जैसे घर संवारने, यौन आपूर्ति और पुरुषों के लिए बेटे और वारिस जनने के लिए। इस ढांचे के बाहर जो भी निकलता है वह सज़ा का हक़दार है।

ये हालात चाहे कितने भी डरावने क्यों न हों पर अभी भी उम्मीद बाकी है- क्योंकि स्त्री और पुरुष आख़िरकार इन मुद्दों पर बात कर रहे हैं, मीडिया इनसे संबद्ध है और नीति निर्माताओं को अब कोई बहाना बनाने की इजाज़त नहीं दी जा रही है। फिर भी जब सब चीख पुकार खत्म हो जाएगी तब स्थाई बदलाव चाहने वालों को भारतीय समाज में गहरे पैठे लैगिंक भेदभाव और स्त्रीद्वेषी सोच, जिनकी अभिव्यक्ति का एक रूप सामूहिक बलात्कार और यौन हमले हैं, से लड़ना होगा।

कल्पना शर्मा, *वरिष्ठ नारीवादी पत्रकार हैं। वे महिला मुद्दों पर लिखती हैं।*
स्रोतः http://thethumbprintmag.com/ *अंग्रेज़ी से अनूदित*